'दुनिया न माने' (1937) फिल्म की समीक्षा

ज्योति*

उम्दा फिल्में बनाने वाले वी. शांताराम के बारे में विश्वनाथ त्रिपाठी अपने एक लेख, 'बाजारवाद का कलात्मक प्रतिरोध' में एक दिलचस्प बात बताते हैं। वे लिखते हैं कि 'डॉ. कोटनीस की अमर कहानी' फिल्म बनाई तो उन्होंने नेहरू को उद्घाटन के लिए बुलाया था। पर नेहरू आए नहीं। उनका मानना था वे विज्ञापन जैसे इस्तेमाल में खुद का सहयोग नहीं देंगे, अतः वे गए ही नहीं। डॉ. कोटनीस के चीन जाने के पीछे नेहरू के भाषण ही प्रेरणा थे। यह फिल्म भारतीय सिनेमा के सफर में एक अमूल्य धरोहर है।

वी. शांताराम द्वारा ही बनाई गई एक अन्य फिल्म 'दो आँखें बारह हाथ' गांधी जी के विचारों से अत्यंत प्रभावित फिल्म थी। आज जब हम मरने-मारने पर उतारू हैं, तब इस फिल्म का महत्त्व व प्रासंगिकता और बढ़ जाती है। अपराध, सजा, सुधार, मानवीय हृदय परिवर्तन, जीवन में दूसरा अवसर जैसे मानवीय मूल्यों के इर्द-गिर्द बनी इस फिल्म में शांताराम जी की सिने-रचनात्मकता उभर कर आती है। सरलता भी क्या खूब है! शांताराम अपनी फिल्मों के माध्यम से समाज सुधार पर जोर देने वाले निर्देशक माने जाते हैं। 'दुनिया न माने' (1937) नारीवादी दृष्टि से भारतीय सिनेमा में अहम जगह रखती है। इस फिल्म को देखने का अनुभव रोमांचक है। फिल्म देखने के बाद यह सवाल खुद से मन में उभर आता है कि कैसे उस दौर में ऐसी किताबें जोखिम लेकर लिखी गई और फिल्मों का निर्माण हुआ।

सन् 1913 के बाद से भारतीय सिनेमा ने पीछे मुड़कर नहीं देखा। सिनेमा एक तिलिस्म की तरह समाज को अपने आगोश में लेने लगा। उस दौर में विभिन्न विषयों पर आधारित फिल्में बनाई जाती थीं। परंतु अधिक फिल्मों में देशभक्ति अथवा स्वदेश प्रेम की बात मुखर होती थी। अधिकतर फिल्मों का कथानक धार्मिक अथवा पौराणिक कथाओं से लिया जाता था। कुछ में प्रेम कहानियों को भी दर्शाया जाता था। राजा हरीश्चंद्र (1913), श्री कृष्ण जन्म (1918), कालिया मर्दन (1919), सौरंध्री (1920), नल दमयंती (1920), शकुंतला 1920), भक्त विदुर (1921), आदि ऐसी मूक फिल्में थीं जिनके विषय भारतीय महाकाव्यों व पुराणों से लिए गए थे। कृष्ण तो एक महत्त्वपूर्ण चरित्र के रूप में उभरते हैं जो दुष्टों का नाश करते हैं और अच्छे लोगों को बचाते हैं। कहा जा सकता है कि गुलाम भारत में इस तरह का सिनेमा अपने प्रतीकों के माध्यम से देश की आजादी में जागरूकता फैलाकर जोश भर रहा था। उस समय देश में बनने वाला सिनेमा देश का मिजाज बताता है। एक तरफ अंग्रेजों से भारत अपनी आजादी के लिए जूझ रहा था तो दूसरी और समाज में इतनी बुराइयाँ थीं कि उनसे भी जूझना जरूरी था। अतः स्वतः ही फिल्म बनाने वालों का ध्यान इन सामाजिक बुराइयों पर भी गया।

सिनेमा के लिहाज से भारत में बीसवीं सदी महत्त्वपूर्ण कालखंड है। इस सदी में चालीस का दशक बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस दशक की शुरुआत में सबसे पहली बोलती हुई (**Talking Film**) फिल्म 'आलमआरा' (1931) बनाई गई जिसका फुटेज अब हमारे पास मौजूद नहीं है। इस फिल्म की कहानी में प्रेम, ईर्ष्या, साजिश, बदला, वेशभूषा आदि जैसे रोमांचक तत्त्वों को शामिल किया गया था। साथ ही कुछ ऐसे अन्य विशेषताओं का ख्याल रखा गया था जिससे फिल्म व्यवसाय भी अच्छा करे। इस फिल्म की कहानी पारसी थियेटर के सफल नाटक पर आधारित थी। सामाजिक संदेश के नजरिए से इस फिल्म की उतनी चर्चा नहीं होती पर इसकी इतनी तो खासियत है कि इस फिल्म के बनने के साथ ही बात करने वाली फिल्मों का दौर शुरू हुआ।

'दुनिया न माने' इसी क्रम में बनी फिल्म थी। अपनी सधी कहानी, संवादों, अभिनय, संगीत व विभिन्न कलात्मक प्रयोगों के लिए इस फिल्म का स्थान अनूठा है। यह फिल्म नारायण आप्टे द्वारा रचित उपन्यास 'न पटनाणी गोष्ट' से प्रेरित थी। इस फिल्म से

* स्वतंत्र लेखिका।

पहले इसी उपन्यास पर आधारित मराठी फिल्म 'कुंकू' बन चुकी थी। इसी फिल्म से प्रेरणा लेकर 'दुनिया न माने' फिल्म को हिंदी भाषा में बनाया गया। एक बात और गौर करने वाली है कि इस फिल्म की स्क्रिप्ट भी नारायण आप्टे ने ही लिखी थी। इस फिल्म का मुख्य विषय बेमेल विवाह और महिला सशक्तिकरण है। अपने से कहीं अधिक उम्र में बड़े व्यक्ति के साथ फिल्म की मुख्य किरदार 'निर्मला' का विवाह कर दिया जाता है। निर्मला के माता-पिता का स्वर्गवास हो चुका है। लालची मामा धन लेकर बुजुर्ग वकील व्यक्ति से निर्मला का विवाह करवा देता है। निर्मला को नौजवान युवक को दिखाया जाता है पर शादी के समय उसकी जगह एक बुजुर्ग व्यक्ति ले लेता है। यहीं से निर्मला का चरित्र फिल्म में उभरता जाता है।

फिल्म की नायिका पढ़ी-लिखी है। संगीत सुनने का शौक रखती है। उसका चरित्र खुशनुमा औरत का है। वह अपने अधिकारों को लेकर सजग स्त्री है। वह बंधनों में बंधी हुई नहीं है और न ही किसी प्रकार के बंधनों को मानने के लिए तैयार है। यह उपन्यास अपने समय से कहीं आगे था और स्त्रियों के मुद्दों को मुखर तरीके से उठा रहा था। ठीक यही बात इस फिल्म के बारे में भी है। फिल्म की नायिका रोती हुई स्त्री या कमजोर नहीं है। वह बुजुर्ग व्यक्ति से धोखे से ब्याह दी जाने के बाद दुःखी और गुस्सा है। उसे समाज के रीति-रिवाजों पर गुस्सा है। उसे शर्म करने को कहा जाता है तब वह सवाल करती है, ''उम्र का खयाल न कर अपनी बेटी की उम्र की लड़की से शादी कर इन्होंने शर्म की थी? जब बड़े-बूढ़ों ने अपनी शर्म छोड़ दी तो मुझसे शर्म करने के लिए क्यों कहा जा रहा है?'' फिल्म की नायिका के संवादों में रोने बिलखने से अधिक दृढ़ संवाद हैं और महत्त्वपूर्ण संवादों के रूप सवालों में हैं। इसी तरह एक जगह नायिका सवाल करते हुए पूछती है, ''संसार में जब बूढ़े-मर्दों ने अपने नीति धर्म को खो दिया तो औरतें ही क्यों संभाले रहें?''

भारतीय मिथकों में जहाँ द्रौपदी अपने चीरहरण के बाद भरी सभा में तीखें सवालों के लिए जानी जाती है वहीं समाज में सवाल करने वाली स्त्री की कड़ी आलोचना की जाती है। स्त्रियों की छवियों को समाज ने अपने सुख-सहूलियत के लिए गढ़ा है। आज्ञा मानने वाली, कम बोलने वाली, मधुर बोलने वाली, जुबान न चलाने वाली, बिना सोचे समझे 'हाँ में हाँ' मिलाने वाली जैसी विशेषताएं 'अच्छी स्त्री' की चारित्रिक विशेषताएं मानी जाती हैं। फिल्म की नायिका अपने साथ हुए अन्याय के खिलाफ मुखर है। वह बदला लेना चाहती है। पति के साथ तस्वीर खिंचवाने की रस्म हो या पड़ोस की औरतों द्वारा उसे देखने आने का मसला हो, वह हर जगह इंकार तो करती ही है साथ में प्रखर जवाब भी देती है। इस बात पर उसे 'मुंहजोर' कहा जाता है। तब नायिका अपनी चाची सास से सवाल करती है, ''बुढ़ापे में सेहरा बांधकर चिराग रौशन किया अब मुझपर क्यों चिल्लाती हो?''

फिल्म में 'न्याय' जैसे तत्त्व का बखूबी प्रयोग दिखाया गया है। एक स्त्री का न्याय क्या है, जब वह उम्र से बड़े व्यक्ति से ब्याह दी जाती है, जैसे सवाल को फिल्म में एक दृश्य से समझा जा सकता है। जिस व्यक्ति ने निर्मला से विवाह किया है, उनके निर्मला के ही उम्र के दो बच्चे हैं। उनका पेशा वकील का है। वकील एक ऐसा व्यक्तित्व होता है जो सही और गलत के बीच की खाई को बनाए रखता है। अगर सही-गलत मिल जाएँ तो समाज के रूप की कल्पना भी नहीं की जाती। स्वयं वकील, दो बड़े बच्चों का पिता और उम्र साठ से पार होकर अपनी बेटी की उम्र की लड़की से विवाह 'अन्याय' का प्रतीक है। जब पति वकील घर के दस्तूरों में लग जाने को कहता है तब नायिका सारगर्भित बात कहती है, ''...जिससे इंसाफ का खून हो वो बात कुबूल नहीं करूँगी! इस उम्र में मुझ जैसी लड़की से शादी की, क्या यह अन्याय नहीं है?... साख की परवाह नहीं, मेरे साथ जिसने अन्याय किया उसे चैन से बैठने न दूंगी। किस्मत से आप मेरे पिता होते और मैं आपकी बेटी तो कितना अच्छा होता!''

फिल्म में एक जगह और 'न्याय व अन्याय' का प्रतीक आता है। निर्मला के दिवंगत माता-पिता की तस्वीर के नीचे लिखा होता, ''दुःख सहना, मगर अन्याय से लड़ना।'' इन बिन्दुओं पर फिल्म अपने विषय पर खरी उतरती जाती है। इन वाक्यों के माध्यम से स्त्री चरित्र इतना विकसित होता है कि आज तक इसे याद किया जाना चाहिए।

फिल्म की कलात्मकता अथवा प्रस्तुतीकरण पर भी काफी काम किया गया है। फिल्म में ऐसे प्रतीकों का इस्तेमाल किया गया जिससे साधारण दर्शक फिल्म का संदेश भली प्रकार समझ जाते हैं। दीवार पर टंगी बड़ी और पुरानी घड़ी, जो बार-बार चाभी

भरने की मांग करती है, प्रतीक है उम्र बढ़ जाने का। घड़ी का घंटा कभी भी बज उठता है तो कभी समय आगे ही नहीं बढ़ता। बुजुर्ग वकील बुजुर्ग नौकर से पूछता है, ''घड़ी को चाभी क्यों नहीं दी? बंद क्यों हो गई है?'' तब बुजुर्ग नौकर कहता है, ''ये अब पेंशन चाहती है। बूढ़ी हो गई है जितना हिलाओ, डुलाओ बंद हो जाएगी!'' इसके अलावा पुराना छाता भी उम्रदराज होने का प्रतीक है। जब वकील उसे बंद करने की कोशिश करता है तो वह बंद होता ही नहीं। इसके अलावा छड़ी भी उम्र के बढ़ने का ही प्रतीक है। बुजुर्ग नौकर और चाची का किरदार, वकील साहब को उम्र का एहसास दिलाने वाले किरदार हैं। जब दर्शक फिल्म को देखते हैं तो उनके दिमाग में उम्र इन प्रतीकों और किरदारों के माध्यम से जगह बनाती है। दर्शक, बड़ी उम्र के व्यक्ति का नयी उम्र की लड़की से विवाह गलत मानना शुरू कर देते हैं।

दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रतीक फिल्म का पोस्टर है। मूक (**Silent**) और सवाक (**Talking**) फिल्मों में शुरूआती दौर में फिल्म के पोस्टरों पर बहुत ध्यान दिया जाता था। उस समय भारत की बड़ी आबादी निरक्षर थी। इसलिए फिल्म के पोस्टर पर फिल्म के किरदार और सन्देश को बड़ी सुंदरता से, गहरे रंगों के साथ उभारा जाता था। फिल्म के प्रति आकर्षण बढ़ाने का यह एक उम्दा और रचनात्मक तरीका था। इस फिल्म के पोस्टर में स्पष्ट संदेश दिखाई देता है। पोस्टर में आधुनिकता और परंपरा के बीच सामंजस्य बैठाने का प्रयास किया गया है। फिल्म के पोस्टर में सबसे ऊपर दीवार में बनी छोटी सी अलमारी में पुस्तकों की छवि उकेरी गई है जो स्त्री-शिक्षा की प्रतीक है। उसके बाद कृष्ण और रुक्मिणी का चित्र पोस्टर के बाएं तरफ है तो सीता-राम-लक्ष्मण की तस्वीर दाएं ओर दिखती है। स्त्री-शिक्षा नितांत आधुनिकता की बात थी। स्त्रियों को पढ़ाएं जाने की बात आंदोलनों में हुआ करती थी। बाल विवाह, विधवा विवाह, सती प्रथा रोक आदि कुछ ऐसे मुख्य विषय थे जिससे उस दौर का भारत साक्षी हो रहा था तो वहीं अंग्रेजियत से आई ईसाई परंपरा से बचाव के प्रयास भी दिखाई देते हैं।

पोस्टर में सीता और रुक्मणि की छवि का साफ मतलब यह था कि हम आधुनिकता को गले तो लगा रहे हैं पर अपनी ही सांस्कृतिक चौहद्दी के बीच में। निर्मला चाहे जितनी भी तेज-तर्रार हो पर वे अंत में आदर्श माँ भी बनती हुई दिखाई देती है जब वह अपने सौतेल बेटे को बदतमीजी के चलते पीटती है। लेकिन वी. शांताराम फिल्म के भीतर इसके बरक्स एक विरोधाभास भी रचते हैं, जो फिल्म को और भी रोचक बना देता है। यह बिंदु फिल्म में अंग्रेजी गीत का है। हिंदी फिल्म में पहली बार अंग्रेजी गाना शामिल किया गया। यह गीत वास्तव में अमरीकी कवि हेनरी वोड्सवर्थ लोंग्फेलो की लिखी कविता है जिसका शीर्षक, ''अ साम ऑफ लाइफ'' (**A Psalm of Life**) है। यह एक ऊर्जावान कविता है। यह कविता जिंदगी के अर्थो को खोजती है साथ ही धैर्य और मेहनत करने की बात भी कहती है। समझा जा सकता था कि पश्चिम भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग को प्रभावित कर रहा था। इसे नजरन्दाज नहीं किया जा सकता था।

फिल्म के अंत में विवाहिता निर्मला विधवा के रूप में परिवर्तित हो जाती है। दर्शक भले ही इसे सकारात्मक अंत माने पर नारी दृष्टि से यह एक जटिल अंत है। 1937 का भारत इतना भी प्रगतिशील नहीं था जो विधवा को स्वीकार करने में तत्परता दिखाता हो। स्त्रियों के लिए जीवन घर के भीतर और बाहर आसान और स्वतंत्र नहीं रहा है। 1937 से 2021 तक आज भी स्त्रियों के मुद्दे बदल नहीं पाए हैं। इसी साल आई मलयाली फिल्म, 'द ग्रेट इंडियन किचन' परिवार में स्त्री की भूमिका और घर के भीतर उसके द्वारा किए जा रहे हाड़-तोड़ श्रम पर आधारित है। रसोईघर में दिन-रात खटने वाली पढ़ी-लिखी पत्नी, माहवारी में अपवित्र होकर चटाई पर दिन काटती है। वह घर के किसी पुरुष के आगे भी नहीं आ सकती। इसके अतिरिक्त केरल के भगवान अयप्पा के दर्शन भी नहीं कर सकती। उसे नौकरी करने की भी मनाही है। पर इस फिल्म की नायिका भी निर्मला की तरह विद्रोही है और अंत में तलाक लेकर अपने जीवन की बुनाई कर रही है। 'दुनिया न माने' की निर्मला दुनिया को मनाना भी नहीं चाहती। उस दौर में निर्मला विधवा हो जाने के बाद सूचना-तकनीक और अवसरों की उपलब्धतता के बीच भले ही नहीं थी पर वह सजग, मुखर, शुसैल और जागरूक थी। वर्तमान में हम स्त्रियों को भी एक निर्मला अपने भीतर जरूर रखनी चाहिए।

❑❑❑❑